CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

गुरुवेव रा. द. रानडे व्याख्यानमाला १९८४

भक्ति रस अनुभव का स्वरूप

डॉ. विद्या निवास मिश्रा

बहि:शाल शिक्षण मंडळ
पुणे विद्यापीठ पुणे ७
१९८४

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In.Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

गुरुदेव रा. द. रानडे व्याख्यानमाला १९८४

भक्ति रस अनुभव का स्वरूप

डॉ. विद्या निवास मिश्रा

बहि:शाल शिक्षण मंडळ
पुणे विद्यापीठ पुणे ७
१९८४

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

मुद्रक व प्रकाशक } श्री. सु. प्र. भोसले, कुलसचिव,
पुणे विद्यापीठ, गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७

© : पुणे विद्यापीठ

मुद्रणस्थळ : पुणे विद्यापीठ मुद्रणालय, पुणे–४११ ००७.

प्रती : ३००

प्रकाशन काल : मार्च १९८५, पहिली आवृत्ती

किंमत : सात रुपये

३००–३–८५ (२२३)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

PUBLISHER'S NOTE

The University of Poona has great pleasure in publishing the present lectures delivered by Dr. Vidya Niwas Misra, Director, K. M. Institute of Hindi Studies & Linguistics, Agra University, Agra in March, 1984 under Gurudev R. D. Ranade Memorial Lecture Series. This was the 14th series of lectures.

The students of religious studies particularly in philosophy will find these lectures of great interest.

On behalf of the University I have to thank Dr. Vidya Niwas Misra for his kind co-operation in bringing out the present publication.

S. P. Bhosale
Registrar.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

भक्ति रस-अनुभव का स्वरूप

इस व्याख्यान का विषय स्व० गुरुदेव के तीन प्रवचनों से प्रेरित है जो उन्होंने बरसों पूर्व प्रयाग में तत्कालीन सूचना प्रसारण मंत्री श्री. दिवाकर के अनुरोध पर दिये थे। वे प्रवचन (Pathways to Realisation of God) 'पाथवेज टु रियलाइजेशन ऑफ गॉड' नाम से बाद में छपे। इनमें मीरा, कबीर और तुलसी की ईश्वरानुभूति वर्णना को लक्ष्य करके इन सन्तों की वाणी के रस की थाह लगाने की कोशिश की गयी थी। उस स्तर का कोई दूसरा विवेचन मेरी स्मृति में नहीं आता। गुरुदेव स्व० रानडे की अन्तःस्फूर्त वाणी का स्मरण एक ओर भय को जन्म देता है कि मैं ऐसे विषय पर कुछ कहने का अधिकारी हूँ भी कि कहने का दुस्साहस कर रहा हूँ, 'बाज सुराग कि गांडर ताँती', दूसरी ओर आश्वासन देता है कि गुरु का स्मरण ही साहस है, बल है और जो कुछ मैं कहने जा रहा हूँ, वह मेरी अपनी बात नहीं है, मुझे जिस परम्परा के निमज्जन से मिली है, उस परम्परा की बात है। यह हो सकता है कि मेरा प्रतिपादन त्रुटिपूर्ण हो, मेरी भाषा असमर्थ हो, पूरी बात मैं प्रस्तुत न कर सकूँ, परन्तु पूरी विनम्रता, पूरी 'इदं कविभ्यः पूर्वेभ्यो नमोवाकं प्रशास्महे' की प्रणति के साथ मैं भक्ति रस के विलक्षण अनुभव का जो स्वरूप प्रतिपादित करने जा रहा हूँ, वह स्वरूप पूर्वऋषियों और पूर्वाचार्यों द्वारा उद्भासित है, मैं उस उद्भास का स्मरण मात्र करा रहा हूँ कि आप भी अपने जातीय उद्भास का स्मरण करें, यह स्मरण साथ-साथ हो और धारावाही हो।

मैं अपने व्याख्यान को दो भागों मे विभक्त करना चाहता हूँ, पहले भाग में सामान्य अनुभव और रसानुभव के बीच अन्तर स्पष्ट करूँगा, पूर्व की रसानुभूति और पश्चिम की सौन्दर्यानुभूति के बीच अन्तर स्पष्ट करूँगा तथा भरत और उनके टीकाकार अभिनवगुप्तपादाचार्य के रस सिद्धान्त की सीमा का भी संकेत करूँगा। इस रस सिद्धान्त में भक्ति रस को गौण स्थान क्यों है, इस पर प्रकाश डालूँगा तथा अन्त में रसानुभूति, भक्ति और भक्ति रसानुभूति को अलग-अलग अनुभव कक्षाओं में स्थापित करने का यत्न करूँगा।

दूसरे व्याख्यान में मैं निर्गुण और सगुण धारा के कुछ भक्त कवियों की वाणी का आश्रय लेकर भक्ति रस की विलक्षण रीति और प्रतीति का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न करूँगा।

पश्चिम का सौन्दर्यशास्त्र कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः सौन्दर्य को वस्तु मानकर चलता है। वस्तु मानने का अर्थ ही है उसे उपभोग्य मानना। भारतीय रसशास्त्र या कलाशास्त्र सुन्दर शब्द का भी प्रयोग कम करता है। वह

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

प्रायः प्रिय, रम्य, सुभग, मनोरम, मनोज्ञ, चारु जैसे शब्दों का प्रयोग करता है। इन सबमें द्रष्टा का महत्त्व दृष्ट से अधिक है। इसमें उपभोक्ता भी स्वयं उपभोज्य है, अन्नाद ही अन्न है। पर यह स्मरणीय है कि द्रष्टा भी सहद्रष्टा है, सन्द्रष्टा है। वह एक होकर नहीं सब होकर, सर्वमय होकर देखता है और सम्यक् देखता है, अधूरा नहीं देखता और आधे मन से नहीं देखता, वह इसीलिए वह देखना मात्र नहीं है, वह होना या पाना भी हो जाता है, वह पाना ही मृत्यु का अतिक्रमण है—

न पश्यन् मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम्।
सर्वं हि पश्यन् पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः॥

—मैत्रायणी उपनिषद् ७–११

चारु में भी चरु होने की ध्वनि है, चरु अर्थात् यज्ञशेष अर्थात् शेषी नारायण का उच्छिष्ट, परमहंस का उत्सृष्ट चरु ही चारु है, मनोरम है, अर्थात् मन को रमाने वाला है, मन को विमल करने वाला है।

भरत ने दृश्य काव्य में रस को केन्द्र में रखा, उसके पीछे इसी दृष्टि की विवशता थी, इस परम्पराप्राप्त विश्वदृष्टि की विवशता थी जो वस्तु से अधिक वस्तु की वास्तविकता की खोज करती है उसकी तथता (suchness) की तलाश करती है, और उसे देशकाल के सीमित चौखटे से बाहर ले जाकर प्रतिभा के चौखटे में स्थापित करती है। पहले हम प्रतिभा को समझें। तीन प्रकार की अनुभूति होती है, स्मृति-रूप, मति-रूप और प्रज्ञा-रूप। स्मृति अतीत की होती है, मति वर्तमान की और प्रज्ञा भविष्यत् की। प्रतिभा इन तीनों को समेटती है और तीनों का अतिक्रमण कर जाती है। है वह प्रज्ञा का ही संस्कार क्योंकि उसमें विज़न होता है, दिव्य दृष्टि होती है, आगे तक के भावक के चित्त को समझने की क्षमता होती है पर वह नवनवोन्मेषशालिनी इसीलिए हो पाती है कि वह स्मृति आकलित स्मृति में अँजी होती है और मति की प्रत्यक् स्वरूपता से परिप्लुत होती है।

देशकाल का अतिक्रमण क्यों आवश्यक है, इस पर विचार करें। नाटक करने वाला यह जाने कि हम राम नहीं हैं, सदैव सचेत रहे कि हम राम नहीं हैं, यह जाने कि हम राम के समय में नहीं हैं, राम के देश में नहीं हैं, नाटक देखने वाला भी यह जाने कि यह राम का देशकाल नहीं है, राम की वेषभूषा की प्रस्तुति है, राम की प्रस्तुति मात्र है। परन्तु इसके साथ ही अभिनेता और दर्शक दोनों यह भी पहचानें कि इस समय हमारा देशकाल भी निलम्बित हो गया है, हम अपने देशकाल से भिन्न और अभिनीयमान राम के देशकाल से भिन्न देशकाल में स्थापित हो गये हैं, हम अनुभव की तुरीयावस्था में पहुँच गये हैं, जहाँ हम बार बार पढ़ी गयी, सुनी गयी कहानी और परिचित पात्रों की कहानी की प्रस्तुति में

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

कुछ अपूर्व पाने जा रहे हैं। अपूर्व पाने की तैयारी यज्ञ की तैयारी है। मीमांसा के अपूर्व की अवधारणा में यज्ञ करने वाला या यजमान जब तक देवता होकर यजन नहीं करता तब तक अपूर्व का अधिकारी नहीं होता। देवता होकर यजन करने का अर्थ ही है अपने देशकाल का निलम्बन, एक अवधि तक त्याग। आनन्द कुमार स्वामी ने आत्मयज्ञ शीर्षक निबन्ध में सविस्तार प्रतिपादित किया है कि **हविर्वै दीक्षितः** (तैत्तिरीय संहिता ६.१.४.५), यजमान की दीक्षा आनुष्ठानिक मृत्यु है, साथ ही पुनर्जन्म है, नये सिरे से पूर्णतर रूप में जन्म है। यजमान रेचित होकर, खाली होकर ही नया सम्भरण करता है, **'रिरिचान इवात्मा भवति'** (शतपथ ब्राह्मण, ३.८.१–२)।

इसी सादृश्य पर नाट्य प्रयोक्ता और नाट्य-द्रष्टा तथा नाट्यकार तीनों नाट्य-व्यापार में नये होने के लिए प्रवृत्त होते हैं, अपने को पूर्णतः खंडित करके विश्लेषित करके सकल और अखण्ड होने के लिए प्रवृत्त होते हैं, भले ही दूसरे क्षण वे पुनः खंडित हो जाएँ, परंतु प्रत्येक प्रस्तुति एक नया संकल्प हो, एक नया अपूर्व हो, इसी से प्रवृत्त होते हैं। तीनों के मन में जिस साकल्य (संपूर्णता) की आकांक्षा उठती है, वही तो **रस** है। **रस** की तैयारी के लिए साधारणीकरण अपरिहार्य है। इसको आप सब्जेक्ट का आब्जेक्टीफिकेशन या आत्म की वस्त्वाकारता या विषयाकारता कह लें, अनुभव की प्रक्रिया की समानता कह लें, कुछ भी कह लें, पर यह चरम बिंदु नहीं है, यह सोपान मात्र है, यह व्यक्ति का उत्सर्ग अपूर्व की उपलब्धि की शर्तमात्र है। प्राचीन भारत का सामाजिक अक्षरज्ञान से वंचित रहा हो, अनाड़ी नहीं था, वह कथा से परिचित रहता था, कथा की नूतनता का आकर्षण उसे नहीं खींचता था, वह प्रयोग की नूतनता से खींच कर आता था और उसके भीतर वह विश्वदृष्टि अँकी हुई थी कि "मैं" गड़बड़ करता है, विघ्न उपस्थित करता है। "हम" होने से गड़बड़ी की कम गुंजाइश रहती है। वह आता था, तो एक ऐसे तादात्म्य के लिए तैयार होकर जो न अभिनीयमान राम से हो, न नट से हो, न राम के प्यार से हो, वह निरुपाधिक चैतन्य से हो जो सबमें है, जिसमें उसका रागद्वेष ही नहीं सबका रागद्वेष प्रतिबिम्बित है। वह इस तादात्म्य के अनन्तर, राग-द्वेष-घृणा में अकेले नहीं रह जाता, पर इसके साथ ही उसकी प्रतिक्रिया भी भिन्न हो जाती है, वह प्रतिक्रिया राजस नहीं होती, सात्त्विक होती है क्योंकि तादात्म्य सत्त्व के उद्रेक में ही संभव होता है। वह लाठी नहीं चलाता, न रावण को मारने दौड़ता है, यदि ऐसा करे तो वह अप्रशिक्षित है। अभिनेता भी यदि ग़लत तादात्म्य या आइडेंटीफिकेशन का शिकार हो जाय तो वह अपराधी माना जाता है, उसकी समाधि शिथिल समझी जाती है। भारतीय मन जिस प्रस्तुति के लिए तैयार होकर आता है, उस प्रस्तुति के केंद्र में सिसृक्षा है, अपने को रचने की, अपने को संस्कृत करने की आकांक्षा है। रस की

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

उपमा जाने क्यों लोगों ने पाकशास्त्र के आस्वाद से, धातुशास्त्र के पुटपाक वाले रस से या आयुर्वेद के जैव रस से दी, जब कि भारतीय चिंतन में रस जल का नाम है और जल अव्यक्त सिसृक्षा का स्वीकृत प्रतिमान है। वाक्सूक्त में वाक् घोषित करती है कि 'मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे' मेरा उद्भव उस अनंत समुद्र के भीतर है, उस अतल गहराई में है, जहाँ से ताप से उष्मा से वाष्प निकलता है तो जीवन-दाता रसवर्षी मेघ हो जाता है। उसी मूलाधार की गहराई से योगी उठाता है, उसी से कवि-कलाकार उठाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर रचने की इच्छा को जाग्रत करने का भाव उठता है, वही रस है। दूसरे शब्दों में छिपी हुई वास्तविकता की खोज ही रस है, अंतर्निहित तथता ही रस है, इस खोज में एक आत्मान्वेषण समाविष्ट है, एक स्वसंवेदना आवश्यक है क्योंकि वह खोज प्रत्येक व्यक्ति की अपनी भी होनी चाहिए, प्रत्येक व्यक्ति का समष्टि में निमज्जन हो, पर वह निमज्जन अपना हो, इसलिए अद्वितीय हो। शब्दार्थ व्यापार वही हो, पर उस व्यापार का प्रत्यय हमेशा नया रहेगा, क्योंकि उस क्षण नया तनाव आयेगा नट के मन में कि हम राम हैं, नहीं, हम राम नहीं हैं, हमारे सामने सामाजिक है, नहीं है, हम हूबहू राम के प्यार का अभिनय कर रहे हैं या राम के प्यार की देशकालातीत वास्तविकता की प्रस्तुति कर रहे हैं। इस प्रकार की संशित-चित्तता, छान्दोग्य उपनिषद् की शब्दावली में प्राण संशिलता न हो तो प्रस्तुति, रसपेशल नहीं होगी। रसानुभूति के लिए अनासक्त संसक्तता आवश्यक है। आज जिसे एस्थेटिक डिस्टेंसिंग कहा जाता है उस दूरी का अर्थ निर्वैयक्तिक या शुद्ध रूप से बौद्धिक सम्बन्ध नहीं है, ठीक इसके विपरीत दूरी का अर्थ है ऐसे वैयक्तिक सम्बन्ध को निरूपित करना जो अत्यन्त भावोत्कर्ष से विशेषरूप में रंजित हो। यह विशेषरूपता इस बात में हो कि सम्बन्ध की वैयक्तिकता छन कर निथर गयी हो—

Distance does not imply an impersonal purely intellectually interested relation of such a kind. On the contrary, it describes a personal relation, often highly emotionally coloured, but of a peculiar character. Its peculiarity lies in that the personal character of the relation has been, so to speak, filtered :— Edward Bullough—*Psychical Distance as a Factor in Art and an Aesthetic Principle—A Modern Book of Aesthetics*, (*p.* 397)

उसी को हम चित्तसञ्ज्ञा (चित्त संज्ञा) कहते हैं, इसे बौद्ध मानस व्यापार से ऊपर की स्थिति मानते हैं। कालिदास ने इसी स्थिति का कलापूर्ण वर्णन यों किया है कि वेग से रथ चलाने पर वस्तुयें नये रूप में संस्कृत दिखती हैं—

यदर्धे विच्छिन्नं भवति कृतसन्धानमिव तत्
यदा लोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद् विपुलताम्।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

जो चीज छोटी दिखती है, वही बड़ी हो जाती है; जो बीच में टूटी हुई दिखती है, वह जुड़ जाती है। तेज़ बहती हुई नदी के किनारे से देखना देखना नहीं है। देखना है तेज़ नदी में बहते हुए वस्तुओं को देखना। इस दृष्टि के लिए संवेग उत्कर्ष–विन्दु से देखना आवश्यक है, तभी छोटी वात बड़ी हो सकती है। मृच्छकटिक नाटक में रदनिका चारुदत्त के वच्चे रोहसेन को लेकर आती है। वह कहता है कि मैं सोने की गाड़ी से खेलूंगा, इस मिट्टी की गाड़ी से नहीं। वसन्तसेना अपने सोने के गहने उस गाड़ी में भर देती है और कहती है, इसी से सोने की गाड़ी गढ़ा लेना। पर शिशुमन की ललक की वात सोचकर और चारुदत्त की विपन्नता की वात सोच कर उसकी आँखों में आँसू आ जाते हैं। रोहसेन पूछता है कि यह कौन है ? रदनिका कहती है—यह तुम्हारी माँ होती है। बच्चा कहता है—नहीं यह मेरी माँ नहीं हो सकती, यह तो रोती है, मेरी माँ कभी नहीं रोती। बहुत छोटी सी घटना है, पर पूरे नाटक की विपुलता इसी घटना में समायी हुई है।

भारतीय रसदृष्टि में एक वात और है। कुछ घटित होता है, यह महत्त्व नहीं रखता, वह घटित होना कैसी परिणति को जन्म देता है, यह महत्त्व रखता है। उत्तर रामचरित में सीता राम से मिलती है, पर राम देख रहे हैं, अरुन्धती ने सीता को स्वीकारा, अयोध्या की जनता लज्जित भाव नतमस्तक खड़ी है और विश्वास नहीं हो रहा है—'सर्वमिदमनुभवन्नपि न प्रत्येमि'। फिर वे टिप्पणी करते हैं : 'अथवा प्रकृतिरियमभ्युदयानाम्' अर्थात् अभ्युदय या सुख का यह स्वभाव ही है कि उसपर विश्वास न हो। विश्वास तो केवल दुःख पर होता है। नाटक के इस परिणाम को घटनावादी सुखान्त मानेंगे पर इस दृष्टि से यह करुणान्त है, क्योंकि इसकी संगति है 'दुःखसंवेदनायैव रामे चैतन्यमर्षितं' से। दुःख का ही वैशिष्ट्य है जो सवको आप्लावित करके रखता है। वह करुण रस में शक्ति है कि वह विस्थापित कर के (अयोध्या से, अयोध्या के राजपाट से) ऐसी जगह ले जाय जहाँ झूठी वास्तविकता की, जनप्रियता के झूठ की लई खुल जाय और असली वास्तविकता का परिचय मिल जाय, **'हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परम्'**, इसकी पहचान हो जाय कि राम की पूर्णता राजा राम होने में नहीं, सीता के प्रिय राम होने में है। संक्षेप में रस न तो केवल प्रत्यय है (ideal beauty शब्द का प्रयोग कुमार स्वामी ने किया है), न केन्द्रीय भाव; वह आत्मयज्ञ है, वह है, वह पत्थर से कूंच कर द्रव वनने वाले सोम का, चन्द्र के रूप में चन्द्र का, विराट् मन के रूप में रूपान्तरण है। रोजमर्रा के अनुभवों के पीछे एक अनुभव होता है, जो न हो तो जीना दुर्वह हो जाय, वह जीवन के समस्त सुख–दुःखात्मक व्यापारों को छोटा करता चलता है और स्मरण दिलाता चलता है कि वड़ा अनुभव जव होता है तो

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

तुम बड़े होते हो, क्योंकि तब तुम आस्वादयिता नहीं रहते, तब तुम आस्वाद या रस बन गये होते हो।

बार बार आप अभिज्ञान शाकुन्तल की पंक्ति पढ़ते हैं— 'चक्रवाकवधुके आमन्त्रयस्व सहचरं इयमागता रजनी' 'चकई, संगी को बुला ले, यह रात आ गयी' और मन में झंकृति होती है पूरी संस्कृति के लिए रात आ रही है, अनुभव के इस उन्मेषक्षण को ले लो। शकुन्तला भूल जाती है, दुष्यन्त भूल जाते हैं, पर यह झंकृति नहीं भूलती। यही रस है। दूसरे शब्दों में रस चित्त का संस्कार ही नहीं वह चित्त के स्वभाव का समाकलन है, जिससे वस्तुऐं निरी वस्तुऐं नहीं रह जातीं, नाते निरे नाते नहीं रह जाते, संसार निरा संसार नहीं रह जाता, वह सब एक आप्लावन बन जाता है, कुछ ही क्षणों के लिए सही, पर उस क्षण को बार बार जीने की इच्छा होती है। यही रस की सार्थकता है।

इस विवेचन में आपको कदाचित् कुछ अशास्त्रीयता दिखायी पड़े, इसलिए मैं अभिनवगुप्तपादाचार्य का प्रमाण दूंगा जो यह मानते हैं कि रसानुभव अपने आप में वस्तु नहीं है जो रसानुभव के पूर्व रचित या उपस्थित रही हो, वह तो अनुभव ही है, वह चैतन्य ही है, वह चैतन्य का स्वसंवित् है, बस उसमें से बाह्य अन्तराय और रागद्वेष के आवरण हटा दिये गये हैं। रसानुभव के पूर्व कामनान्तर का उपराम आवश्यक है, साथ ही रसानुभव के विषय में रसानुभविता का पूर्ण निमज्जन भी आवश्यक है।

[" *Rasa* or this experience is not a thing in itself, formed previous to the act or consciousness by which it is perceived (therefore the perception) which, freed from external interference and from all practical desires, becomes *Rasa* or aesthetic experience.

Aesthetic experience precipitates, of necessity, the extension of every practical desire and therefore the submission of the subject in the aesthetic object to the exclusion of all else." *Aesthetic Experience According to Abhinava Gupta*, p. xxii].

अभिनवं गुप्त ने रसानुभव को इस तरह सामान्य अनुभव से विशिष्ट निरूपित किया, साथ ही उन्होंने रसानुभव को ब्रह्मानुभूति से या ईश्वरानुभूति से भी अलग बतलाया। ईश्वरानुभूति से रसानुभूति में मुख्य अन्तर यह है कि ईश्वरानुभूति में विषयास्वाद बिलकुल तिरोहित हो जाता है, जब कि रसानुभूति में विषय का रूपान्तर तो होता है, पर वह निरन्तर स्मृति में उद्बुद्ध रहता है, जब कि सामान्य विषयानुभूति में फँसाव होता है, रसानुभूति में फँसाव नहीं होता—

लौकिकात् प्रत्ययाद् उपार्जनादिविघ्नबहुलाद्
योगि प्रत्ययाच्च विषयास्वाद शून्यतापरुषाद्

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

विलक्षणाकारसुखदुःखादिविचित्रवासनानुवेध्योपनत–
हृदयातिशय संविच्चवर्णात्मना भुज्यते बुद्धया ।

रसानुभूति में सुख-दुःख विलक्षण आकार ग्रहण कर लेते हैं और उनकी वासना से आविद्ध होकर चैतन्य की रसधारा फूटती है, उस द्रुत चैतन्य में ये सुख-दुःख रूपान्तरित होकर दिखते हैं।

रसानुभूति और ईश्वर प्रणिधान या भक्ति में एक दूसरा अंतर भी अभिनव गुप्तपादाचार्य ने लक्षित किया है। उन्होंने माना है कि (**परमेश्वर-विषय वैवश्य समावेशरूपा भक्तिः**) भक्ति निरन्तर अपने से बाहर खींच कर परमेश्वर की ओर ले जाती है, वह अपने को परमेश्वर के अधीन कर देती है, जब कि रसानुभूति आत्मनिर्भर है। इसीलिए इस रससिद्धान्त के अनुसार **भक्ति** भाव से अधिक ऊंची स्थिति की अधिकारी भी नहीं है, **भक्ति** की प्रस्तुति नाट्य में रसनिष्पत्ति नहीं कर सकती। भरत के नाट्यशास्त्र में आठ ही रस गिनाये गये हैं उनमें भक्ति को स्थान नहीं है और बाद के काव्य शास्त्रिओं ने भक्ति को **देवादि-विषयारति-मात्र** मान कर केवल भाव की संज्ञा दी, उसमें रसत्व की सम्भावना नहीं पायी। इसके समर्थन में उपपत्ति यह दी जाती है कि—

१—देवादि विषया रति मानव मन की मूल भावना नहीं है,

२—मानवीय भावनाओं की तुलना में भक्ति विषयक भावना व्यापक नहीं, और

३—निर्जीव मूर्ति के प्रति व्यक्त भावों में सजीव प्राणियों के समान उत्कंठा का अभाव है।

(आनंदप्रकाश दीक्षित—रससिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण, पृष्ठ २८२)

जहाँ तक कि संसार वासना वासित जन की बात है, उपयुक्त उपपत्तियाँ अपने स्थान पर सही हैं, परंतु एक बात विचारणीय है कि साधारण जन भी वासनाओं के संसार में रहते हुए भी भक्त चाहे न हों, पर भक्ति-काव्य से लीला की प्रस्तुति से द्रवित तो होते ही हैं, उनका द्रवण रस रूप है या नहीं, **भक्ति** की अनुभूति और भक्तिकाव्य की अनुभूति में कोई अन्तर है या नहीं ?

इसी विन्दु से हम चर्चा को दूसरा मोड़ देना चाहते हैं। भक्ति सर्वथा अमानुष या अप्राकृत नहीं है, न वह लोक का सम्पूर्णतया निषेध है, न लोक व्यवहार का ही वह सम्पूर्णतया निषेध है। उसमें लोकबाह्यता भी आती है तो लोकानुग्रह की आकांक्षा से ही। इसलिए भक्ति-काव्य भी सम्प्रेषण की दृष्टि से काव्य है, साहित्य है। वहाँ भी श्रोता के हृदय के साथ संवाद स्थापित होना आवश्यक शर्त है, सम्प्रेषण के लिए और वहाँ भी शब्दार्थ-व्यापार के बल पर ही एक ऐसी अनुभूति होती है जो दूसरी अनुभूतियों को उस क्षण अभिभूत या निरस्त कर देती है। और भक्ति-काव्य के पढ़ने सुनने पर भी यह सार्वत्रिक नियम नहीं

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

है कि सब उस भक्ति के आदेश की स्थिति में उसके बाद भी बचे रहें। अतः भक्ति के अनुभव और भक्ति-काव्य के अनुभव में अन्तर अपने आप स्पष्ट हो जाता है। यह अवश्य है कि भक्ति-काव्य के अनुभव के लिए सहृदय की दीक्षा का प्रकार कुछ अलग अवश्य होगा।

भक्ति-काव्य के सबसे प्रथम ग्रन्थ **श्रीमद्भागवत** में इस दीक्षा का प्रकार समझाया गया है। व्यास जब **महाभारत**, और पुराणों की रचना करके मन में कुछ सन्तुष्टि का अनुभव नहीं कर सके, उन्हें लगा कि कुछ खाली-खाली सा है तो वे सरस्वती तीर पर चिन्तित भाव से ध्यान करने बैठ गये कि यह खालीपन क्यों है? नारद आये, नारद से उन्होंने पूछा, आप बतलायें कारण क्या है? नारद ने कहा कि आपको जो करना था वह आपने नहीं किया, आपने चतुर्वर्ग साधन की बात की, धर्म की बात की, मोक्ष की बात की। सृष्टि का तत्त्व समझाया, पर जिससे चित्त प्रसन्न हो, प्रसन्न ही न हो जिससे तृप्त हो कर अतृप्त हो, उसकी बात नहीं की। आपने **लीलानुवाद** नहीं किया, आपने ऐसे तीर्थ बनाये जहाँ कौवे पानी पियें, ऐसे तीर्थ नहीं बनाये जहाँ हंस पानी पीने आयें

तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा न तत्र हंसा निरमन्तु शिक्षया।

आपने विरक्तों को अनुरक्त करने वाली लीला का वितान नहीं किया। नैष्कर्म्य ठीक है, पर अच्युत भाव से वर्जित होकर वह शोभा नहीं प्राप्त करता। न शोभा प्राप्त करता है, निरञ्जन ज्ञान। श्रीकृष्ण से अंजित होकर श्रीकृष्ण से भावित होकर ही ज्ञान और कर्म शोभित होते हैं।

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाव वर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।

आप असन्तुष्ट हैं, अतृप्त हैं, विरक्त हैं, तभी आपमें श्रीकृष्ण की लीला का भाव आ सकेगा। बिना निष्किञ्चन हुए निष्किंचन को पाया नहीं जा सकता। भगवान् में मेरा मन भी तभी लगा जब दासी का अनाथ पुत्र होकर मैं सन्तों की वाणी से तृप्त और अतृप्त होता रहा। श्रीमद्भागवत की इस भूमिका में भक्ति काव्य के सहृदय की दीक्षा का जो प्रकार बतलाया गया है, उसमें दो बातें महत्त्व की हैं, एक तो **अकिञ्चनता** जिस पर आनन्द कुमार स्वामी ने **आकिञ्चन्य** (सेल्फनाटिंग) शीर्षक से उत्तम निबन्ध लिखा है और प्रतिपादित किया है कि बुद्ध कहते हैं कि **नाहं क्वचित्कस्सचि किंचनं, तस्मिन्न च मम क्वचित्कत्थंचि-त्किंचनं** 'मैं कहीं भी किसी का भी कुछ नहीं हूँ, और कहीं भी कोई भी मेरा कुछ नहीं है'। मृत्यु के अनन्तर **आकिञ्चन्य** हो या पूर्ण विलय हो, इसका कोई महत्त्व नहीं है, वह विलय यहीं और अभी होनी चाहिए। (There is no question of a post-mortem annihilation here, then, but of persons triumphant here and now. A. Coomarswamy–"Akiñcanna", *Selected Papers*, Vol. 2, pp. 98–99).

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

तारों में छिपती है, वही दादू के भीतर पैठ गयी है। या रहीम की तरह अचरज करें कि—

बिन्दु में सिन्धु समान को अचरज कासों कहै।
होनहार हेरान रहिमन अपने आप तें ।।

अब यह अचरज की बात किससे कहें कि आज बिन्दु में सिन्धु समा गया है, मैं जिसे खोजने चला था, वह तो मुझी में खो गया।

दोनों अनुभव भक्त की विवशता की बात नहीं करते, भगवान् की विवशता की भी बात करते हैं, भगवान् की लाचारी है कि वह भक्त में समा जाय, इसी में उसकी सार्थकता है, पर इतनी बड़ी बात कहना कठिन है।

दूसरी समान बिन्दु है प्यार और मरण का एकीकरण और इस कारण सनातन विरह की तड़पन दोनों स्तरों के भक्तों के अनुभवों में है। यह मृत्यु आनुष्ठानिक मृत्युमात्र नहीं है, यह सचमुच में मरण है, "दरस आस पियास तुलसीदास चाहत करन" वाला मरण विलक्षण है, उसमें जीना ही दुस्सह है, क्योंकि अपना जीवन शेष नहीं रह जाता और दूसरा बना जीवन छोड़ा नहीं जाता। जायसी की विरहानुभूति और विद्यापति की विरहानुभूति की तुलना करें, तो यह बात और स्पष्ट हो जाती है। पद्मावत में जब राजा रतनसेन पद्मावती के पूर्वराग से उन्मथित होता है तो उसकी दशा का चित्रण जायसी इस प्रकार करते हैं—

सुनतहिं गा राजा मुरछाई, जानि लहरि सुरज तें आयी।
प्रेमधाव दुख जान न कोई, जेहि लतौ जानै पै सोई ।।

परा सो प्रेम समुद्र अपारा, लहरहि लहर होइ विसभारा।
विरल भौंर सोइ भावरि देई, खिनु खिनु जीव हिलोरा लेई।
खिनहि उसास बूड़ि जिम जाई, खिनहि उठै निसरै बौराई।
खिनहि पीत खिन होइ मुख सेता, खिनहि चेत खिन होइ अचेता।
कठिन मरन ते प्रेम बेवस्था, ना जिउ जिय न दसवें अवस्था ।।

जनु लेनिहारा न लेउ जिउ, हरहिं तरासहिं ताहि।

राजा पद्मावती का गुणानुवाद सुनते ही ऐसे मूछित हुआ जैसे सूरज से कोई लहर आग की आयी हो, प्रेम के इस घाव को कौन जानेगा, जिसे लगा हो वही न जानेगा। प्रेम समुद्र में पड़ जाय तो हर लहर का थपेड़ा सहना पड़ता है, कभी जीवन ऊपर साँसें लेने को आता भी है, तो विरह उसे फिर उछालता है। तीव्रता से अनुभव करो इस मरण को। एक साँस ऐसी आती है कि जी डूबने लगता है इतने में एक साँस ऐसी आती है जो विरह से बौराई हुई लगती है। एक क्षण सारा रक्त जैसे पी लिया जाता है, दूसरे क्षण विरह के ताप से एकदम चेहरा दीप्त हो उठता है। क्षण में होश आता है, क्षण में अचेत

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

हो जाता है। प्रेम की व्यवस्था मरण से भी कठिन है, न प्राण जाते हैं न मरण होता है, लगता है जैसे कोई प्राण लेने आया हो, प्राण लेता न हो केवल उसे तराशता रहता हो।

विद्यापति का वर्णन—

अनुभव माधव माधव सुमरिइत राधा भेल मधाई।
ओ निज भाव सुभावहिं विसरल अपने गुन लुवधाई
माधव अपरुब तोहर सिनेह।
अपने विरह अपन तनुजरजर जिवइत भेले सँदेह।
भोरहिं सहचरि कातर दिठि हेरि छल दल लोचन पानि—
अनुखन राधा राधा रटितहिं आधा अधा बानि।
राधा सञो जब सुनतहिं माधव माधव सञो जब राधा।
दारुन प्रेम तबहुँ नहिं टूटत बाढ़त विरह क बाधा।
दुहु दिसि दारु दहन जैसे दगधइ आकुल कीट परान।
अइसन वल्लभ हेरि सुधामुखि कवि विद्यापति भान॥

प्रतिक्षण माधव माधव स्मरण करते करते राधा माधव से इस प्रकार एकाकार हो जाती है कि वह माधव होकर राधा के विरह में तड़पने लगती है, अपना भाव प्रेयसी भाव–अपना स्वभाव, राधा भावका स्वभाव भूल जाती है और अपने ही गुणों पर लुभा जाती है। कैसी विपरीत गति होती है माधव तुम्हारे प्रेम की कि अपने ही विरह से अपना शरीर जर्जर हो जाता है, तुम ऐसा तल्लीन कर देते हो कि अपने से बिछुड़न का ताप असह्य हो जाता है। अत्यन्त कातर दृष्टि से माधव भाव में बौरायी राधा अपनी सहचरी राधा की तलाश करती है आँखों में छलछल आँसू भर आते हैं, और कितना आश्चर्य कि इस विपर्ययसे प्यार का सूत्र टूटता नहीं, विरह और अधिक दुस्सह हो जाता है। वह राधा से फिर माधव होती है, माधव से फिर राधा, दोनों अवस्थाओं में विच्छेद बना रहता है और चित्त के दो खण्ड राधा और माधव भाव चिर कर जलते रहते हैं, प्राण कीड़े की तरह इन दोनों के दाह का साक्षी बन कर अकुलाता रहता है। विद्यापति कहते हैं कि ऐसे प्यार तलाशें जो यह विचित्र प्रेम–वैचित्र्य पैदा कर दे।

दोनों विरह वर्णनों में यद्यपि आकुलता की परिस्थितियों में अन्तर है, परन्तु आकुलता की तीव्रता और चित्त का उद्वेलन एक ही प्रकार का है। इसे लौकिक विप्रलम्भ श्रृंगार के अन्दर रखना इसलिए संभव नहीं है कि इस में विरह ही जीवन है लौकिक श्रृंगार में विरह संयोग के सुख का उद्भावक या उपकारक मात्र है। संयोग ही मुख्य है।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

एक तीसरी समानता की बिंदु है, नाम के स्मरण पर आग्रह। निर्गुण भक्त हों या सगुण दोनों नाम–स्मरण को सर्वस्व मानते हैं। चैतन्य महाप्रभु यही लालसा पालते रहते हैं कि श्रीकृष्ण के नाम लेते ही कब ऐसी स्थिति होगी कि आँखों अश्रुधारा बन जायेंगी, वाणी अवरोध वन जायेगी, और शरीर रोमांच वन जायेगा।

नयनं गलदअश्रुधारया वचनं गद्गदया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः यदा तव नामग्रहणे भविष्यति।।

कबीर भी अपने मन को प्रबोधित करते रहते हैं "मनुआ रामनाम रस पीजै"। नाम के ऊपर यह वल भक्ति को सामान्य भाव से अधिक अमूर्त और अधिक सूक्ष्मतर वनाता है। नाम के ऊपर बल का अर्थ है श्वास-श्वास में गूंज भरना देखने की अपेक्षा नाम सुनना, नाम सुनने की अपेक्षा सुनने मात्र से प्रेमाकुल हो जाना भक्ति की चरम उपलब्धि है।

दोनों धाराओं की अपनी–अपनी अलग बिशेषतायें भी हैं, उनकी थोड़ी चर्चा अव आवश्यक प्रतीत होती है। निर्गुण भक्ति में दाम्पत्य भाव रूपक के रूप में ही प्रयुक्त है क्यों कि कोई दूसरा लौकिक भाव ईश्वरानुभूति की सम्पन्नता के समीप नहीं पहुँचता, जव कि दाम्पत्य भाव सगुण भक्ति में रूपक नहीं है, रूपक के रूप में उसकी व्याख्या अर्थहीन व्याख्या है। वह एक दिव्य माधव भाव है जो अनुकरणीय नहीं है, जो केवल निरूपणीय है। जो भक्त सखी के रूप में अपने को दाम्पत्यभाव का अंतरंग साक्षी बनाते भी हैं वे श्रीकृष्ण की–प्रीति की–पात्री आकांक्षा से, श्रीकृष्ण से प्रीति की आकांक्षा से नहीं। सूफी कवि रूपक के तानने में कभी–कभी अति कर जाते हैं, पर जव कभी वे परम ज्योति की झलक की बात करते हैं, तब वे भारत की प्रकृति के रंग के कारण या भारतीय परम्परा के रंग के कारण वे अरव के सूफी संतों के अनुभवों से कुछ विलक्षण अनुभव के द्रष्टा वन जाते हैं। एक उदाहरण गज़ाली से लें जो कहते हैं।

प्रेम आया और मेरी रगों में मेरी त्वचा में
ऐसे समा गया जैसा मेरा लहू हो
और फिर उसने मुझे ऐसे खाली किया
कि मेरा कुछ न रहा
मुझे प्यारे से भर दिया
और मेरे प्यार ने मेरी सत्ता के
हर हिस्से पर अधिकार कर लिया,
अब फक़्त मेरा नाम रह गया है,
शेष सब वह हो गया है।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

जायसी इसी प्रेमावेश को अधिक मूर्त रूप देते हैं—

सूरज बूडि उठा होइ ताता। और मजीठ टेसू बन जाता।।
भा बसन्त राती बनसपती। और रात सब जोगी जती।।
भूमि सो भीजि भयेउ सो गेरू। औ राते तँह पेंखि पखेरू।।
राती सती अगिनि सब कामा। गगन मेघ राते तेहि घामा।।

सूरज उस राग में डूब कर लाल हो गया, बन टेसू के फूलों से दहक उठा, समस्त वनस्पति जीवन वसन्त से लला गयी, जपतप सब उस रंग में रंग गये, रंग की ऐसी वर्षा हुई कि धरती गेरू हो गयी–सारे पखेरू (पक्षी) लाल पर वाले हो गये। सारा अस्तित्व लाल हो गया, सारी इच्छायें लाल आग बन गयीं और गगन में बादल तक लाल हो गये।

जायसी के वर्णन में राग का प्रकार अधिक व्यापक है, इतना व्यापक कि अपना छोटासा अस्तित्व इस राग के प्रसार में कुछ महत्त्व नहीं रखता।

कबीर ने भी इस अनुभव को सशक्त ढंग से यों कहा है—

लाली मेरे लाल की जित देखहुँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल।।

निर्गुण भक्त कवियों की एक और विवशता थी। वे समाज के निचले से निचले स्तर तक पहुँचने के लिए भाषाहीन भाषा तलाश रहे थे। उन्हें इसलिए सधा भाषा, उलटवाँसी की भाषा का प्रयोग करना पड़ा, जो देखने में चमत्कारी होने के कारण रसानुभूति में बाधक है पर अनुभव की अद्वितीयता और सम्प्रेष्य या सम्बोध्य समुदाय की सामान्यता को दृष्टि में रखते हुए एक मात्र साधक उपाय है।

मुस्लिम सन्त यारी साहब से एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

जेह कू पन देख न रंग है रे बिनु रूप सिफ़ात में आप फूला।
फूल विना जहाँ वास है रे निवास के पास सवेरे भूला।
जहाँ देह बिना केवल है रे केवल की जोति झुलाव तोला।
यारी अलम मलोल नहीं जहाँ फूल देखो विना डारी फूला।

बिना किसी रेखा के, बिना किसी रंग के देखो एक रूप खिल रहा है। देखो एक ऐसी सुगन्ध है जो बिना फूल के है और उसके आसपास भौंरे मँड़रा रहे हैं। एक ऐसा कमल है जो बिना किसी सरोवर के फूल रहा है। ज्योति फैल रही है, पर दिखायी नहीं पड़ती उस कमल की न कोई जड़, न तना, न पेड़, न डाल, और अस्तित्व इस पर फूल रहा है। इस झूलना में सम्बोधन में 'रे' का प्रयोग भी आत्मीयता के अतिरेक के कारण है अथवा सम्बोध्य आत्मा की अबोधता

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

यहीं तुलनीय है श्रीमद्भागवत की अकिंचनता—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः ।।

—भा. ५–१८–१२.

'अकिंचन' का अर्थ है 'नास्ति प्रष्टुं योग्यं किंचन यस्य असौ'
अर्थात् जिसके पास पूछने योग्य कोई भी चीज़ नहीं है ।

दूसरी है तीव्रता, तेज़ धार की तीव्रता । साधारण रसानुभूति में भी आत्मविलय होता है, कुछ तीव्र संवेग भी होता है पर भक्ति रसानुभूति में दोनों की भूमिका कुछ विशेष हो जाती है । इसमें चित्त की विकलवता, आर्तता अधिक आवश्यक है; यह भाव अधिक आवश्यक है कि कहीं हम खो गये हैं, भटक गये हैं, अन्धकार में घिर गये हैं । गुरुदेव रानडे ने इसी को **आत्मा की अंधेरी रात** (डार्कनाइट ऑफ द सोल) कहा है और माना है कि किसी रूप में रहस्यानुभूति में यह आवश्यक उपादान है—

On the whole, however, it remains true that dark night is more or less a necessary ingredient and it seems that mystical healthy-mindedness is never reacted or can never be fully appreciated, unless it is preceded by a mystical sick-mindedness. (R. D. Ranade–*Mysticism in Maharashtra*—Praface, Page 18.)

और स्वस्थ रहस्यमनस्कता तव तक नहीं पायी जा सकती या पूर्ण तरह आस्वादित हो सकती जव तक कि रहस्यात्मक दुर्मनस्कता, उन्मनीभवन, दुचित्त होना भूमिका के रूप में पहले स्थापित न हो जाय । पश्चिम के जो आलोचक भारतीय वैष्णव भक्ति-काव्य में रूपक की तलाश में मरे जाते हैं और हमारे यहाँ के पश्चिम-भावित विचारक भी रूपक की ओट में ही प्रेमभक्ति का वचाव खोजते हैं, उसके पीछे मुख्य कारण यही है कि उनके भीतर रसग्रहण की तैयारी नहीं है, उनके भीतर **आत्मा के अंधेरी रात** का अहसास गहरा नहीं है, न उनके भीतर ऐसा खालीपन है जो भरने के लिए आकुल वन सके । यहीं एक और उपादान की वात कर दूँ । भक्ति का मंच नाट्य का मंच नहीं, लीला का मंच है। नाट्य और लीला में दो गुणात्मक अन्तर हैं, पहला तो यह कि लीला देखने वाला लीला का अंग है, वह निरा देखने वाला नहीं है, वह प्रतिभागी है। भक्त का अर्थ ही भाग लेनेवाला है जव कि नाट्य का सामाजिक नाट्य में प्रतिभागी नहीं है, केवल नाट्य के रसानुभव में प्रतिभागी है । दूसरा अन्तर यह है कि लीला की प्रस्तुति में श्रीकृष्ण या सर्वेश, सर्वात्मा के आलम्वन होने के कारण लीलारस आलम्वन भी श्रीकृष्ण हैं, उसके उद्दीपन भी श्रीकृष्ण हैं और उसके अनुभाव भी श्रीकृष्ण हैं, उसके स्थायी और संचारी भी

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

श्रीकृष्ण हैं, अतः लीलारसानुभव में अनुभविता का निमज्जन वस्तु या विषय में नहीं होता क्योंकि अनुभाव्य तो स्वयं विषयी है, उल्टे अनुभविता में विषयता संक्रान्त हो जाती है और वह अनुभव करने को विवश होता है कि श्रीकृष्ण मुझे देख रहे हैं; मैं नहीं उन्हें देख रहा हूँ। इन दो अन्तरों के कारण भक्तिरस की अनुभूति की भूमिका कुछ भिन्न हो जाती है और उसकी निष्पत्ति की बात अभिनव गुप्तपादाचार्य के रससिद्धान्त में समाविष्ट नहीं हो पाती।

पुराने आचार्य देवादि विषया रति में रस की संभावना नहीं देख सके, क्योंकि उनके सामने वह ज्वार नहीं आया था जो मध्ययुग में सारे भारत में आया और जिसने तुच्छ से तुच्छतर के भीतर महत् से महत्तर की आकांक्षा जगा दी, जिसने मोक्ष को किनारे डाल दिया और ऐसी धारा का वरण किया, जिसमें अपना दुःख विलीन हो जाता है। दूसरों के दुःख में और उस महादुःख के महाकरुणा के वरण के आगे मोक्ष विरस अनास्वाद और अश्मवत् हो जाता है।

इस धारा को जिन लोगों ने देखा वे अद्वैत वेदान्त के परम ज्ञानी होते हुए भी यह कहने को लाचार हो गये कि :—

अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञान कर्मादयनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनंभक्तिरुत्तमा।। (भक्ति रसायन १/११)

निरंतर कृष्ण की ऐसी भावना जो दूसरी अभिलाषाओं से एकदम विरहित हो, जिसके ज्ञान और कर्म के आवरण अलग कर दिये गये हों भक्ति है। यही परम निःश्रेयस् है। ऐसे ही लोगों ने नया भक्तिरस शास्त्र रचा और यह प्रतिपादित किया है कि यही वास्तविक रस है, दूसरे लौकिक रस तो अपनी रसता इससे पाते हैं, अपनी अर्थवत्ता इससे पाते हैं; दूसरे शब्दों में भगवद्भाव की उपस्थिति में ही सारे नाते नाते हैं; सारे रिश्ते रिश्ते हैं; अनुपस्थिति में न कोई नाता है न रिपूता है, भगवद्भाव के कारण ही संसार स्पन्दनमय जगत् है, वह मंगलमय है, वह ठहराव नहीं है, वह गति है, उसी के कारण जीवन स्पृहणीय है, उसकी प्यास प्यास है, उस प्यास में ही आस्वाद है?

तस्माद् भक्तिरस एव लौकिकरसानुपेक्ष्य सेव्यः

इसीलिए भक्तिरस ही लौकिक रस की उपेक्षा करके संवेदनीय है।

भक्तिरसानुभव के स्वरूप पर विस्तार में दूसरे व्याख्यान में कहूँगा। पर उसके पूर्व इतना और निवेदन करना चाहूँगा। भक्तिरसानुभव की सर्जना में भाषा अद्भुत तनाव से गुजरती है, वह बाधक भी है। क्योंकि जैसे दीप घर के भीतर रहे तो निश्चल प्रकाश देता है, उसको अगर हम देहली पर रख दें तो

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

उसके बुझ जाने की आशंका रहती है, उसी प्रकार प्रेम-भक्ति हृद्वेश्म में रहते हुए ही निश्चल रहती है और वदनद्वार आते ही चंचल हो जाती है, लघु होती है—

प्रेमाद्वयो रसिकयोरपि दीप एव हृद्वेश्म भासयति निश्चल एव भाति।
द्वाराद्वयं वदनतस्तु बहिष्कृतश्चेन् निर्वाति शीघ्रमथवा लघुतामुपैति।।

और वही साधक भी है, 'रहियतरूप नाम आधीना।' भाषा अमूर्त न रहकर अमूर्त भाव को वहन करने के लिये मूर्त हो जाती है, वह स्वयं तरल द्रव बन जाती है, भागवतकार की भाषा में हंसपेय तीर्थ बन जाती है और रामचरितमानसकार तुलसी की भाषा में समानगति बन कर सुरसरि धारा, सुरसरि बन जाती है। भाषा की भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। उसके साधन कुछ अटपटे होते हैं, उसकी मांग भी अटपटी हो जाती है। वह भाषा सन्धा या सन्ध्या भाषा हो जाती है, जोड़ीवाली इसलिये सन्धा और ध्यानपरायण इसलिये सन्ध्या। वह भाषा ताजा लहू की गर्मी और नंगे पहाड़ की भव्यता, शीतलता के समान अद्वितीय होती है।

* * *

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

व्याख्यान २

भक्तिरस के अनुभव के स्वरूप में गुणात्मक अन्तर किस विवशतासे आता है, इसकी चर्चा मैं कर चुका हूँ, अब इस अनुभव की विलक्षणता के कुछ उदाहरण देना चाहूँगा। लोग सगुण और निर्गुण भक्ति में आत्यन्तिक भेद देखते हैं, पर अनुभव के स्तर पर समान बिन्दुओं को अनदेखा कर जाते हैं। मैं समान बिन्दुओं की बात पहले करूँगा। दोनों स्तरों की भक्ति के अनुभव के जो वर्णन हमें मिलते हैं, उनमें सबसे पहला समान बिन्दु है भाषा की अभिव्यक्ति की दुस्तर समस्या का समाधान। भक्ति के अनुभव में विषय और विषयी के भेद के अपास्त हो जाने के कारण उस अनुभव का लेखा देनेवाला कोई नहीं रहता। हर भक्त इसीलिए कवि नहीं होता, जैसे हर कवि भक्त नहीं होता, पर जो भक्त कवि होते हैं, कहने की लाचारी से अभिभूत होते हैं **'कह्यो बिनु रह्यो न परत'**, उनके सामने समस्या यह आती है कि कैसे उस ओतप्रोत करनेवाले, सराबोर करनेवाले किनारे को धारा बनानेवाले अनुभव से अपने को अलग करें और कैसे तो उसका लेखा देकर उसको फीका बनायें, कैसे भाषातीत अनुभव को भाषा दें, और कैसे अपने को ईश्वर के अनुभव से भीगे हुए तटस्थ साक्षी बनायें। इस समस्या का समाधान दो प्रकार से वह करता है। एक तो कभी कभी कबीर की तरह वह बोलते हुए भी न बोलने की बात करता है, मन मस्त हुए तो क्यों बोलें, दूसरा प्रकार है कुछ आभास देकर, कुछ सादृश्य देकर, कुछ अपर्याप्त सादृश्य देकर जैसे दादू ने अनुभव को इस प्रकार रेखांकित किया है—

नूर नैन भरि देखण लीजै
अभी महारस भरि भरि पीजै
अमृतधारा बार न पारा
निर्मल सारा तेज तुम्हारा।
अजर जरंता अमी झरंता
तार बजंता बहु गुनवन्ता।
झिलमिलि सोई जोति गुसाईं
दादू माहीं नूर कहाई॥

मुझे भर आँख देखने दो—अमृत का महारस इन आँखों में भर-भर कर पीने दो, इस अमृत की धारा का आर पार नहीं है, यह कूलहीन कूलंकषा धारा है, तुम्हारा निर्मल तेज द्रव हो गया है, न कभी सूखता है, न कभी पुराना पड़ता है, यह जलता रहता है, तब भी मधुर लगता है। उस नूर की उस प्रकाश की झिलमिल छाया

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

के भाव के कारण है, पर इस सम्बोधन में, बहुत ही तीखापन है जो बौद्ध चर्चा नीतियों से शुरू होती है और भक्तिकाव्य में आकर अपरिहार्य भक्ति बन जाती है।

निर्गुण और सगुण भक्त कवियों के अनुभव इस प्रकार बहुत मूलतः भिन्न नहीं हैं, जैसे तपा हुआ आग का गोला चाहे किसी उपादान का हो एकसा लाल दिखायी देगा, आँच की तेजी दोनों की एक ही होगी। एक और समान बिन्दु है जहाँ दोनों स्तर के भक्तिकाव्य मिल जाते हैं, वह बिन्दु है सहज की। वैसे सहज का नाम विद्यापति, चण्डीदास, कबीरदास और दादू जैसे कुछ ही कवियों ने लिया है, पर सहज भाव की व्यापकता सबमें है, कोई कोई, उसी को सूधो या सीधा मार्ग कहते हैं, जैसे तुलसीदास कहते हैं—

तुलसी सूधी सकलविधि रघुवर प्रेमप्रतीति।

या जैसे घनानन्द कहते हैं—

सूधो सनेह को मारग है कछु यामें सयानप बाँक नहीं।

सहज को समझना समझाना दोनों बहुत कठिन है। चण्डीदास की दृष्टि में सहज होना ऐसे है जैसे साँप के मुँह में मेंढ़क को नचायें; जैसे चले पर पाँव धरती पर पड़ रहे हैं, यह अहसास न हो। उद्वेलन के भीतर रहते हुए अनुद्वेलित रहे. यही सहज होना है। सहज होना वैसे तो लगता है सहजात केवल शुद्ध रूप को पुनः प्राप्त करना है, पर कितना कठिन है अपने को निरावरण करना, अहमिति विसराना, यह बात बहुत ही दाहक अनुभव से गुजरने पर ही जानी जा सकती है। अब्दुर्रहीम खानखाना ने एक उपमा दी है—

रहिमन मैन तुरंग चाढ़ि चलिबौ पावक माँहि।
प्रेमपन्थ ऐसो कठिन सबसौं निबहत नाहिं॥

काम के घोड़े पर सवार होकर आग के भीतर से चलना सबसे नहीं निभता, न सबसे यही सम्भव होता है आग लेने जाये और आग होकर लौटें—

गई आग उर लाइ आगि लेन आई जो तिय।
लागी नाहिं बुझाइ भभकि भभकि बरि बरि उठै॥

यह आग लग जाय तो बुझाती नहीं, बस निर्धूम जलती रहती है। ऐसे निर्धूम दहन में सब कुछ तो बदल जाता है, त्रिताप, त्रिताप नहीं रह जाते, बड़े ताप के आगे शीतल हो जाते हैं और संसार दारुण नहीं रह जाता। इसे कामाचार का पथ माना गया है, विशेष रूप से प्रेमभक्ति के प्रसंग में। पर जैसे भागवतकार ने कहा है कि 'भर्जिता क्वथिता धाना यथा बीजाय नेष्यते।' बीज के दाने को आग में डाल दीजिए, फिर उससे अंकुर नहीं फूटेंगे। उसी प्रकार यदि कामना परम

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

प्रेयान् की ओर मोड़ दी जाय तो कामना फल के बन्ध से मुक्त हो जायेगी। उपनिषद् में इसी को **कामकामी** कहा गया है, श्रीकृष्ण को भागवतकार ने इसीलिए **मन्मथ–मन्मथ** कहा, मथनेवाले भाव को मथनेवाला बतलाया। भक्ति रस के अनुभव में इसीलिए काम के जब तक यह स्तर नहीं समझे जाते, तब तक मन में दुःख बना रहेगा, एक चोर पैठा रहेगा। वह चोर आज के भारत के शिक्षित मन में गहरे पैठ गया है। वह सहज नहीं हो सकता, इसीलिए उसे केवल दुराव छल, झूठ, अशुचिता, कलुष यही सब दिखता है! राधाकृष्ण के प्यार में उसे केवल लौकिक रूपलालसा या आसक्ति की ही लहर दिखायी पड़ती है। परन्तु जैसा कि आनन्दकुमार स्वामी ने अपने सहज नामक निबन्ध में कहा है कि सहज की दीक्षा का अर्थ है वर्तमान में सनातन और अपरिमेय रूप से जीना इसमें सायास आत्मनिग्रह पर नहीं, गहन संयोग सान्निध्य में अनायास अविचल शान्ति के अनुभव पर बल है (a perpetual uncalculated life in the present and the maintenance not of deliberate control but of unsought unshaken serenity of greatest intimacy—*Dance of Siva*, Page 138).

इसी निबन्ध में उन्होंने आगे चल कर यह भी प्रतिपादित किया है कि प्रेम भक्ति में एक दूसरे के लिए कुछ भी करना अनावश्यक हो जाता है, क्योंकि प्रत्येक कार्य प्रेम बन जाता है। वृन्दावन में निकुंजसेवा का अर्थ है, बालू पर गिरी हुई पत्तियों को बटोरना। प्रेम ही मात्र अवशिष्ट रह जाता है, यहाँ तक कि चित्त, मन, इन्द्रिय, शरीर सब प्रेम हो जाते हैं। उस समय स्थिति यह होती है प्रेम की चेष्टा न क्रिया रहती है न प्रतिक्रिया, न वहाँ बहाव है, न रोक। उस स्थिति में, कुमार स्वामी के ही शब्दों में "प्यार आवेग और समर्पण से बहुत दूर चला जाता है, लुभाने के और लजाने की स्थिति से दूर चला जाता है, आध्यात्मिक रूपक के दायरे से और केवल मानवीय अनुभव के दायरे से दोनों से मुक्त हो जाता है। (love is far removed from the passion and surrender, the tricks of seduction and the shyness, of all the spiritual allegory and of the purely human experience. *Ibid*) इस रुदन भाव के उन्मेष में राम का प्रेम के रूप में रूपान्तरण नहीं होता, प्रेम ही राम बन जाता है—प्रेमैव गोपरामाणां राम इत्यागमत् प्रभाम् (भक्ति रसामृत सिंधु में उद्धृत आगमवाक्य)

श्री राधा इसीलिए कहती हैं—

न क्षोदीयानपि मम सखि प्रेमगन्धो मुकुन्दे
क्रन्दन्तीं मां निजसुभगताख्यापनाय प्रतीहि।
खेलद्वंशीवलयिनमनालोक्यं तं वक्त्रबिम्बं
ध्वास्तात्वलम्बा वहमहहा प्राणकीटान् बिभर्ति।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

पश्चिम की छिछली नैतिकता से ग्रस्त मन के लिए इस सहज के भाव को निर्गुण प्रेम के प्रसंग में समझना, कुछ अधिक आसान है, क्यों कि वहाँ प्रेमी का कोई आकार नहीं है, भले ही वे अनुभव का ताप अतिरंजित मानें, पर उनके लिए सगुण भक्ति के प्रसंग में इसे समझने में बहुत कठिनाई महसूस होती है। पश्चिम के समीक्षक एक ही प्रश्न छेड़ते हैं, इसे लौकिक प्रेम ही मानें, क्या हर्ज है, क्यों यह ज़रूरी समझा जाय कि हम श्रद्धाभाव से ही भक्तिकाव्य का अनुशीलन करें, बिना इसके भी शुद्ध मानवीय प्रेम के रूप में भी इसका आस्वादन किया जा सकता है, ऐन्द्रिय अनुभूति में लौकिक रसानुभूति तो होती ही होती है। इसका एक ही उत्तर है, श्रद्धा भगवान् में हो न हो, रचनाकार के सम्पूर्ण कृतित्व में अन्विति की तलाश का धैर्य तो होना ही चाहिए। जयदेव, विद्यापति, मीरा और सूर, रसखान के काव्य को समग्रता में पढ़ें तो कुछ बातें ऐसी मिलती हैं, जिन्हें लौकिक समझदारी से किसी भी प्रकार समझा नहीं जा सकता। इस काव्य-संसार में कुछ ऐसा विपर्यय होता है कि जो आँखें श्रीकृष्ण को निहारती हैं, वे आँखें नहीं रह जातीं, श्रीकृष्ण या आत्मा ही विषय हों तो आँख स्वयं आत्मा हो जायेगी, इसीलिए सूर आँखों को उपालम्भ दिलाते हैं गोपियों से, जैसे आँखें उनसे अलग हो गयी हों, दूसरे भक्तिकार का भगवत्प्रेम एक ऐसा दर्पण है जिसमें सब कुछ अनमिल दिखता है। यह बात व्रज की एक मिथक कथा से और अधिक स्पष्ट होती है। श्री राधा शृंगार करती हैं और दर्पण में देखती हैं कि मैं कैसी लगती हूँ। श्रीकृष्ण पीछे आ जाते हैं, उनकी छाया दर्पण में नहीं पड़ रही है, पर यकायक श्री राधा को आभास होता है कि प्रियतम मुझे अपनी छवि निहारते हुए देख रहे हैं और इतने में उन्हें लगता है कि मैं बहुत सुन्दर हो गयी हूँ। फिर लगता है मेरी यह प्रतिच्छवि कोई और है और वे बेसुध हो जाती हैं। वह प्रतिच्छवि ललिता के रूप में अवतरित हो जाती है। दर्पण जिस रूप का दर्शन करता है वह सचमुच अपना रह कहाँ गया है वह तो परकीय हो चुका है। आत्मरूप का विमर्श इस प्रेम के दर्पण में नहीं होता। इसमें केवल अपने प्रेम-रूपान्तरित रूप का विमर्श होता है। श्रीराधा के प्रेम का चित्र सूर ने भी इसी प्रकार खींचा है कि श्रीराधा श्रीकृष्ण की कौस्तुभमणि में अपना प्रतिबिम्ब देखती हैं और उन्हें लगता है यह दूसरी सुन्दरी श्रीकृष्ण की हृदयेश्वरी कहाँ से बन गयी ? वे रूठ जाती हैं। मनाये नहीं मानतीं। उन्हें किसी प्रकार प्रतीति नहीं होती कि वह कोई दूसरी नहीं, उन्हीं की प्रतिच्छवि है। अब इस भाव को या तो आप उपहसनीय मानें और तब ऐसे काव्य को उत्तम काव्य की कोटि से खारिज कर दें या फिर इसे ऐसा काव्य मानें जो अलौकिक, पर बोधगम्य अनुभव का काव्य है।

अलौकिकता के और भी लक्षण मिलते हैं। यहाँ अन्धकार ही प्रकाश हो जाता है, क्यों कि उस निबिड़ अन्धकार में ही श्रीकृष्ण को श्री राधा उनके घर

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

पहुँचाती हैं, श्याममय वातावरण में श्याम अपनी विराटता से आतंकित हो गये हैं, उन्हें स्वरूप विमर्श कराना है, उन्हें उनके घर पहुँचाना है, उनका घर नन्द महल नहीं, जमुना का निकुंज है, खुला आकाश, अनढकी धरती, अपने आप उगे लतामुक्त और श्री राधा का खुला प्यार, यही उनका घर है।

श्याम की यह श्यामता श्री राधा के प्रकाश से प्रकाश बन जाती है और अप्रकाश को प्रकाश बनाने की प्रक्रिया में श्री राधा स्वयं श्यामा बन जाती हैं। इस लीलालोक में स्मृति ही प्रत्यक्ष अनुभव बन जाती है, अभिलाषशून्यता ही अभिलाषा बन जाती है, रसखान के शब्दों में—

जेहि पाए बैकुंठ अरु हरिहूँ की नहिं चाहि।
सोइ अलौकिक सुद्धसुख सरस सुप्रेम कहाहिं।

जिस प्यार को पाकर न वैकुंठ की चाह रह जाय न हरि की ही चाह रह जाय, वही शुद्ध अलौकिक प्रेम है। इसमें प्रिय के मिलन का सुख दारुण दुःख है क्यों कि स्वामी हरिदास के शब्दों में 'प्रियाप्रीतम के नैन मिलेहू रहत पै कबहुँ मिलै ना आँखें मिली रहती हैं पर लगता है कभी मिली नहीं क्यों कि इस मिलन में वह सब खो जाने का भय है। यहाँ अनुभव होता है, मैं हूँ, मैं प्रिय को देखती हूँ, मैं प्यार करती हूँ और इन सब से अलग होना प्रेमी के रूप में अपने अस्तित्व का भान खो देना सहज नहीं है। इसमें सुख-दुःख, राग-द्वेष, भय-क्रोध, शोक-मोह सब एक धरिया में crucible में डाल दिये जाते हैं और द्रव बन जाते हैं, बाहर निकलते हैं, उनमें श्रीकृष्ण की छवि अंकित होती है, वे श्रीकृष्णाकार हो जाते हैं क्यों कि वह धरिया भी तो श्रीकृष्ण ही है। इसीलिए प्रेम करनेवाला भी अब व्यक्ति नहीं रहता, वह भाव होकर प्रेम करता है। सूर ने यही बात अपने एक पद में ऐसी गायी है—

ऊधौ विरहौ प्रेम करै।
ज्यौं पुट पट गहत न रंग कौ रंग न रसै परै।
ज्यौं घर दहै बीज अंकुर गिरि तौ सत फरनि फरै।
ज्यौं घट अनल दहत अपनौ तन पुनि पय अमी भरै।
ज्यौं रस सूर सहै सर सम्मुख तौ रवि रथहु अरै।
सूर गुपाल प्रेम पथ चलि करि क्यों दुःख सुखनि डरै।।

विरह ही प्रेम करना जानता है। बिना बांधेनू में बंधे वस्त्र में रंग कहाँ खिलता है, बिना घर जलाये उसकी राख में नये अंकुर कहाँ फूटते हैं, बिना अवा में पके घड़ा कब अमृतरस का आधार बनता है, बिना सामने तीर झेले सूरमा कैसे रवि के रथ को भी स्तम्भित करेगा ? गोपाल के प्रेम-पथ पर चलते हुए दुःख-सुखों से क्यों डरेगा ?

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

सूर के इस पद में दुःख का अनुभव सुख से बहुत ऊपर है, सुख तो तुच्छ है। भक्ति-दर्शन में प्रेमाभक्ति को चरम सोपान कहा गया है, रूपासक्ति और कामासक्ति उससे नीचे के स्तर की आसक्तियाँ मानी गयी हैं। नारद के बयासीवें भक्तिसूत्र में भी प्रेमाभक्ति के ग्यारह उत्तरोत्तर उत्कर्षाधायक सोपान बतलाये गये हैं, गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परमविरहासक्ति। परमविरहासक्ति का एक उदाहरण विद्यापति से मैं दे चुका हूँ जिसमें विरह का अनुभव वैचित्यभाव में पहुँच कर तीव्रतम हो जाता है।

प्रसंगवश यहाँ यह भी बतलाना अभीष्ट होगा कि समस्त वैष्णव कवियों के लिए गोपीभाव की श्रेष्ठता उनकी आत्मनिवेदनासक्ति और तन्मयतासक्ति को लेकर है। वह तन्मयता केवल भावनीय है, वह भक्त को प्राप्य नहीं है, वह नारद के लिए भी गेय है, ध्येय नहीं है।

परन्तु श्रीराधाभाव परमविरहासक्ति की सिद्धि है, वह श्रीकृष्ण के लिए दुष्प्राप्य है, उनके लिए सर्वथा स्पृहणीय है। वह भाव श्रीकृष्ण की चरम चरितार्थता है। जयदेव के गीतगोविन्द की अन्तिम अष्टपदी में श्री राधा मिलन के बाद श्रीकृष्ण से अनुरोध करती है कि मेरा श्रृंगार कर दो और ऐसे कर दो कि मैं तुम्हीं से सज जाऊँ, तुम्हीं मेरे काजल बन कर अँजो, तुम्हीं मेरे कस्तूरी तिलक बनो, तुम्हारा मुकुट मेरे चिकुरपाश में गुंथा फूल बने, तुम्हीं मेरी नीली ओढनी बनो। मैं श्रीकृष्णमय और तुम्हारे हाथों श्रीकृष्ण मय होना चाहती हूँ। जो जयदेव का तात्पर्य यहाँ लौकिक श्रृंगार मानेंगे, उनको काव्ययोजना से कोई लेना-देना नहीं है। वे 'सांवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैनन में कजरा करि राख्यौ' श्यामल रूप को मैं आँखों का काजल बना के रखना चाहती हूँ, का अर्थ नहीं ग्रहण कर सकते। श्रीकृष्ण को मध्ययुग के संस्कृत के एक कवि ने भी श्रवसौ, कुण्डलमक्ष्यो-रञ्जनमुरसो मौक्तिकदाम कहा है। वे ही कानों के कुंडल हैं, उनका शब्द, उनका नाम, उनका गान कानों में गूँजता रहता है। वे कानों में छाये रहते हैं, वे ही आँखों के अंजन है, तभी तो सब कुछ सही दिखता है, दुनियाँ जैसे उल्टे दिखती है, वैसी गोपी नहीं देखती। वे ही गले के हार हैं वे ही समस्त मंडनविधि हैं।

मैं इस बिन्दु पर लौकिक रसानुभूति के उस पक्ष की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा, जहाँ स्थायीभाव रसता को प्राप्त होता है, यह कहा गया है। भक्तिरस के प्रसंग में वह बात घटती नहीं, क्यों कि भक्ति कोई भाव या मानस वृत्ति तो है नहीं, यहाँ से सम्पूर्ण चैतन्य को चिति को समुद्वेलित करनेवाला व्यापार है। यह तो पहले से ही चैतन्य रसाम्बुधि का उद्वेलन है। यह जिस बिन्दु से शुरू होता है वहाँ चित्त है ही नहीं, चित्तवृत्ति है ही नहीं। साक्षात् रसो वै सः मधुर

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

मूर्ति ने ही चिद्वृत्ति का स्थान जब ग्रहण किया हो, वे ही आत्मा की अंधेरी रातमें भाव होकर उतरे हों तो उनकी प्रीति का अनुभव जिस काव्य में अंकित होगा, वह लौकिक रस-शास्त्र से कैसे परिभाषित होगा ? श्रीकृष्ण का लीला-अवतरण और कुछ नहीं कृष्णाकार वृत्ति का रस रूप में उच्छलन है, प्रेमी की आकांक्षा की पर्याप्त आपूर्ति है। ऐसी आपूर्ति है जो किसी भाजन में भरी नहीं जा पाती और क्लेश बना रहता है, मैं देख न पायी। दूसरे शब्दों में वृत्तिहीन, स्थितिहीन श्रीकृष्ण की वृत्ति और स्थिति ही श्रीकृष्ण का अवतरण है। श्री राधा का अवतरण और अधिक अलौकिक है। दो कथायें पुराणों में आती हैं, एक कथा है, जिसमें काली ने शिव से इच्छा व्यक्त की कि मैं पुरुष होकर तुमसे प्यार करना चाहती हूँ, तुम स्त्री बनो और शिव श्री राधारूप में अवतीर्ण होते हैं, काली श्रीकृष्ण के रूप में। दूसरी कथा है कि श्रीराम जब अश्वमेघ यज्ञ करते हैं तो हिरण्मयी सीता की प्रतिकृति को पत्नी के आसन पर प्राणप्रतिष्ठित करते हैं, यज्ञसमाप्ति पर वे उस प्रतिकृति का विसर्जन करना चाहते हैं, वह अड़ जाती है कि मैं तुम्हे छोड़कर नहीं जाऊँगी। श्रीराम के सामने बड़ा संकट उपस्थित होता है, अन्त में वे हार मान कर कह देते हैं, कि श्रीकृष्णावतार में तुम श्री राधा होकर जन्म लोगी और तुम नित्यमुक्त रहोगी, पर साथ ही चूंकि तुमने दुराग्रह किया है, नित्य विमुक्त भी रहोगी। दोनों कथाओं से दो बातें निकलती है, नित्य संयुक्त शिव स्त्रीरूप में नित्य विरह का अनुभव करने की स्थिति में आते हैं और एकनिष्ठ सीता की भावरूप प्रतिकृति राधा बनती है। दोनों ही बातों से श्रीकृष्ण राधा शुद्ध शक्ति की चरितार्थता हैं, भाव की भावना हैं, आकर्षण की आकर्षण हैं, यह बात इंगित होती है।

किसी भी सर्जनात्मक रचना का आस्वाद उसकी सम्पूर्णता में लेने के लिए उसकी जमीन समझनी जितनी आवश्यक है, उतना ही आवश्यक है उसका आकाश समझना। आकाश से मेरा तात्पर्य उसके प्रकाश का स्रोत, उसके स्वप्नों की तारकमाला का अधिष्ठान, उसकी जनमन में गूंज, से है क्यों कि यह सब आकाश है। भक्ति-काव्य, विशेष रूप में प्रेमाभक्ति के काव्य का आकाश बहुत विस्तृत है, वह किसी खिड़की से नहीं देखा जा सकता। उसे देखने के लिए खुले में आना होता है। मैंने जो दो कथानक श्री राधा के अवतरण के सम्बंध में दिये वे जनमन में श्री राधाभाव के साथ गहरे लगाव के ही प्रमाण है। इस भाव को थहाने के लिये जनमन से एकाकार होना पहली शर्त है। एक अवधी लोकगीत में यह अंकित हुआ है कि श्री रुक्मिणी के मन में अभिमान होता है कि मैं श्रीकृष्ण को अधिक प्यार करती हूँ तो वह श्रीकृष्ण से कहती हैं कि परीक्षा लो। श्रीकृष्ण उन्हें जमुना के किनारे ले जाते हैं और अपने रेशमी केशों को जोड़ कर एक तार इस पार और उस पार एक खूंटी में बाँध देते हैं, कहते हैं, घड़ा भरकर इसी

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

पर चलते हुए इस पारसे उस पार चली जाओ। रुक्मिणी आधी राह जा पाती है, घड़ा नहीं संभलता, जैसे तैसे पार पहुँचती हैं, पर घड़ा बीच धार में ही गिर जाता है। तब श्रीकृष्ण श्री राधा से कहते हैं, तुम घड़ा भरकर पार चली जाओ। श्री राधा थिरकती हुई दो-दो घडे लिए पार चली जाती हैं। श्री रुक्मिणी का गर्व टूट जाता है।

इस अभिप्राय के अंकन से दो बातें निकलती हैं कि जनमन ने श्री राधा के सहज प्यार को बहुत ऊँचा स्थान दिया है, क्यों कि वह सचमुच अनाविल है, उसमें किसी दूसरे भाव का कुछ भी मिश्रण नहीं है, उसमें ऐश्वर्य का भी बोध नहीं है, न अपने, न अपने प्रिय के। दूसरी बात यह कि श्री राधा घड़ा संभाल सकती हैं, केवल अपना शरीर घट ही नहीं संभालती, वे श्रीकृष्ण का दिया हुआ घट भी संभाल सकती हैं, रुक्मिणी अपने को ही संभाल पाती हैं। घट वस्तुतः और कुछ नहीं भावदेह है। भावदेह को साधे रखे बिना प्यार कितना ही एकनिष्ठ क्यों न हो, कितना ही सात्त्विक क्यों न हो, उत्कर्ष की भूमिका नहीं निभा सकता।

प्रेमभक्ति से इसका स्वरूप इसीलिए उत्कृष्ट है कि न केवल उसमें आत्म-विस्मृति की पराकाष्ठा है बल्कि उसके साथ ही जो परात्पर है, उसकी अनुरक्ति की भी पराकाष्ठा है, उसमें समस्त विषयों से वैराग्य विषयी के महाराग में परिणत होता है, सारी आसक्तियाँ कड़ी आँच में तप कर महासक्ति का द्रव बन जाती हैं। उस स्थिति में प्रेमी–प्रेमिका में कोटियाँ भी नहीं रह जातीं, केवल प्रेम रह जाता है, अद्वैत भी द्रव से क्रिया में परिवर्तित हो जाता है, चाहरहित चाह रह जाती है, अनन्त अनन्त दाह बनकर। रसशास्त्र के सभी पैमाने इस तप्त द्रव को संभालने चलते हैं, टूट जाते हैं, यहाँ तक कि श्रीरूप गोस्वामी का भक्ति रसायन भी, दोनों अपर्याप्त सिद्ध होते हैं। यह विचित्त हुए बिना, समझा नहीं जा सकता और विचित्त होकर प्यार तो किया जा सकता है, सर्वविध्वंसक और सर्वाह्लादक प्यार की उद्भावना भी की जा सकती है, सम्भावना भी की जा सकती है, पर उससे शास्त्र नहीं रचा जा सकता। यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, उसमें एक और शर्त जोड़ दें कि जहाँ चित्त या अहंकार भी नहीं पहुँच सकता, उस रसभूमि के बारे में अनकहा ही कहा है। मैं कुछ नहीं कह पाया, यह मेरी लाचारी नहीं भक्ति-रस का स्वरूप ही ऐसा है। अपनी अनुपलब्धि पर मुझे असन्तोष नहीं है। परन्तु मैंने जो कुछ कहा है उससे जरूर असन्तोष है, क्यों कि इतना कहने का भी मुझे अधिकार नहीं। स्व० गुरुदेव की पुण्यस्मृति से अभिभूत होकर इतनी चपलता कर गया, इसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

———

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi